



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2019; 5(2): 118-119

© 2019 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 27-01-2019

Accepted: 29-02-2019

Dr. Deepti Kumari

Sanskrit Teacher, Directorate of
Education, Delhi, India

Dr. Asheesh Kumar

Assistant Professor, Department
of Sanskrit Rajdhani College,
University of Delhi, Delhi, India

प्राचीन भारत में राजव्यवस्था

Dr. Deepti Kumari and Dr. Asheesh Kumar

सारांश

भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है तथा इसकी जड़े हमारे प्राचीन समृद्ध समाज में प्राप्त हैं। यदि आज भारत विश्व की सबसे पुरानी सभ्यताओं में से एक है तो उसका प्रमुख कारण भारतीय प्राचीन ग्रंथ एवं शास्त्र हैं जिसमें समाज को नियंत्रित करने के लिए निश्चित व्यवस्था थी। प्राचीन काल में भारत में सुदृढ़ व्यवस्था विद्यमान थी। इसके साक्ष्य हमें प्राचीन साहित्य से प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत लेख प्राचीन धर्म शास्त्रीय ग्रंथों में राज्य व्यवस्था की निश्चित व्यवस्था को दर्शाता है साथ ही यह भी निश्चित करता है कि किस प्रकार न्यायाधीश की संपूर्ण क्रियाएं शास्त्र सम्मत थी। ऐसा कहना गलत नहीं होगा कि भारतीय लोकतंत्र का सिद्धान्त वेदों की ही देन है सभा और समिति का उल्लेख ऋग्वेद एवं अथर्ववेद दोनों में मिलता है जिसमें राजा मंत्री और विद्वानों से विचार विमर्श करने के बाद ही कोई फैसला लेता था। प्रस्तुत लेख के माध्यम से यह ज्ञात होगा कि प्राचीन भारत में राज्य व्यवस्था एवं न्याय व्यवस्था ठोस हुआ करती थी।

प्रस्तावना

भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है तथा इसकी जड़ें हमारे प्राचीन समृद्ध समाज एवं समाज में नियमित राजव्यवस्था है। यदि आज भारत विश्व की सबसे पुरानी सभ्यताओं में से एक है तो उसका प्रमुख कारण भारतीय प्राचीन ग्रंथ एवं शास्त्र हैं जिसमें समाज को नियंत्रित करने के लिए निश्चित व्यवस्था थी। प्राचीन काल में भारत में सुदृढ़ व्यवस्था विद्यमान थी। इसके साक्ष्य हमें प्राचीन साहित्य, सिक्कों और अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। विदेशी यात्रियों एवं विद्वानों के वर्णन में भी इस बात के प्रमाण हैं।

आधुनिक संसदीय लोकतंत्र की सही समझ के लिए प्राचीन ग्रंथों की अत्यन्त महत्ता है। इसको इसी बात से जाना जा सकता है कि 2009 में भारत की सर्वोच्च न्यायालय की एक खण्डपीठ ने आधुनिक हिन्दू विधि ङवकमतद भ्पदकन रूँद्ध की सही समझ के लिए 'मीमांसा सिद्धान्तों' के परिप्रेक्ष्य में ही उसका अवलोकन करने की बात कही है –

"It is deeply regrettable that in our courts of law, lawyers quote Maxwell and Craies but nobody refers to the Mimamsa Principles of interpretation. Most lawyers would not have been heard of their existence. Today our so called educated people are largely ignorant about the great intellectual achievement of our ancestors and the intellectual treasury which they have bequeathed us. Most of the Mimamsa Principles are rational and scientific and can be utilized in the legal field."

न्यायमूर्ति श्री मार्कण्डेय काटजू
प्रकरण नाम – विजय नारायण धत्त
17 अगस्त 2009

इस निर्णय ने एक बार पुनः धर्मशास्त्र की मूल आस्थाओं का अन्वेषण करने की महत्ता को रेखांकित किया है। ऐसा कहना गलत नहीं होगा कि भारतीय लोकतंत्र का सिद्धान्त वेदों की ही देन है। सभा और समिति का उल्लेख ऋग्वेद एवं अथर्ववेद दोनों में मिलता है जिसमें राजा, मंत्री और विद्वानों से विचार विमर्श करने के बाद ही कोई फैसला लेता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में तो सभा में निर्वाचित सदस्यों द्वारा राग, द्वेष, लालच अथवा भयवश गलत निर्णय देने पर अपराधी को दिए जाने वाले दण्ड से दुगुने दण्ड का भी प्रावधान है।^[1]

Corresponding Author:

Dr. Asheesh Kumar

Assistant Professor, Department
of Sanskrit Rajdhani College,
University of Delhi, Delhi, India

¹ रागाल्लेभाद्भयाद्वाऽपि स्मृत्यपेतादिकारिणः।

सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाहद्विगुणम् दमम्। (याज्ञवल्क्य स्मृति 2/4)

इसके माध्यम से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में राजव्यवस्था एवं न्याय व्यवस्था कितनी ठोस हुआ करती थी कि सभासदों का दायित्व है कि वे ठीक से न्याय करें अन्यथा दण्ड भुगतने को तैयार रहें। प्राचीन काल में सम्पूर्ण राजव्यवस्था, राजा के कर्तव्य, यथा – प्रजारक्षण, वर्णाश्रम, धर्मों के नियमों का पालन, दुष्टों को दण्ड देना एवं न्याय करना आदि सभी शास्त्र के अनुरूप होने चाहिए अर्थात् राजा कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं था जो अपनी इच्छानुसार न्याय कर सकता था। यहाँ तक कि राजसभा में भी राजा की शारीरिक चेष्टाएँ एवं अवस्थाओं को भी शास्त्र द्वारा मर्यादित किया गया है। मनुस्मृति में मनु उल्लेख करते हैं कि न्यायाधीश को धर्मासन पर बैठकर या खड़े होकर विवादों का निर्णय लेना चाहिए।^[2] इस वक्तव्य पर आधुनिक तथाकथित विद्वान यह शङ्का कर सकते हैं कि मनु के अनुसार तो राजा अपनी इच्छानुसार ही अपनी क्रियाओं को करता है किन्तु प्राचीन काल में राजव्यवस्था अत्यधिक उन्नत थी इसका पता इसी बात से चल जाता है कि न्याय की समुचित व्यवस्था हेतु दो स्मृतियों के परस्पर विरोध होने पर व्यवहार को ही महत्ता दी गई है^[3] अर्थात् उस समाज में परम्परा से चले आ रहे आचार, व्यवहार को ही निर्णायक के रूप में देखा जाना चाहिए।^[4] इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे प्राचीन शास्त्रकारों की यह विशेषता है कि वे जानते हैं कि समाज को देश, काल, पात्र के अनुरूप बदलना आवश्यक है। नियम के प्रति दृढ़ता भी आवश्यक है किन्तु उसी नियम में परिवर्तन की गुंजाइश भी आवश्यक है। अन्यथा शास्त्र जड़ हो जाएगा एवं व्यवस्था में परिवर्तन नहीं हो सकेगा।

उपर्युक्त शङ्का का समाधान मनुस्मृति पर प्राप्त प्रसिद्ध टीका में मेधातिथि ने किया है कि न्यायाधीश का बैठना अथवा खड़े होना भी न्यायाधीश की इच्छा पर निर्भर नहीं करते अपितु यह कार्य की अपेक्षा रखते हैं अर्थात् यदि अल्पकालिक कार्य है तो वे खड़े होकर करे किन्तु यदि दीर्घकालिक मुकदमा है तो वह बैठ भी सकता है।^[5]

प्राचीन राजव्यवस्था में राजा अपनी सभा में किसी भी व्यक्ति को सभासद (सभा का सदस्य, डमउडमत वचितसंपंडमदज) नहीं नियुक्त कर सकता था। सभासदों की योग्यता एवं अर्हता का पूर्णतः विधान किया गया है।^[6] यहाँ तक कि सभासदों की संख्या भी शास्त्र द्वारा निर्धारित की जाती थी।^[7] इसका अभिप्राय है कि 'चाटुकारों' का राजव्यवस्था में तनिक भी स्थान नहीं था।

वर्तमान संसद की तरह ही प्राचीन समय में परिषदों का निर्माण किया गया था जो वर्तमान संसदीय प्रणाली से मिलता-जुलता था। गणराज्य या संघ की नीतियों का संचालन इन्हीं परिषदों द्वारा होता था। किसी भी मुद्दे पर निर्णय होने से पूर्व सदस्यों के बीच में इस पर खुलकर चर्चा होती थी। सही-गलत के आकलन के लिए पक्ष-विपक्ष पर जोरदार बहस होती थी। उसके बाद ही सर्वसम्मति से निर्णय का प्रतिपादन किया जाता था। सबकी सहमति नहीं होने पर बहुमत प्रक्रिया अपनायी जाती थी। कई जगह तो सर्वसम्मति होना अनिवार्य होता था। बहुमत से लिए गए निर्णय को 'भूयिसिविकम' कहा जाता था। इसके लिए वोटिंग का सहारा लेना पड़ता था। तत्कालीन समय में 'वोट' को 'छन्द' कहा जाता था। निर्वाचन आयुक्त की भांति इस चुनाव की देख-रेख करने वाला भी

एक अधिकारी होता था जिसे 'शलाकाग्राहक' कहते थे। वोट देने के लिए तीन प्रणालियाँ थीं –

1. गूढक (गुप्त रूप से) अर्थात् अपना मत किसी पत्र पर लिखकर जिसमें वोट देने वाले व्यक्ति का नाम नहीं आता था।
2. विवृतक (प्रकट रूप से) अर्थात् खुलेआम घोषणा
3. संकर्णजल्पक (शलाकाग्राहक के कान में चुपके से कहना)

सदस्य इन तीनों में से कोई भी प्रक्रिया अपनाने के लिए स्वतंत्र थे।

इस तरह हम पाते हैं कि प्राचीन काल से ही हमारे देश में गौरवशाली लोकतंत्रीय परम्परा थी तथा आधुनिक काल में प्राप्त पूर्ण विकसित वृक्ष रूपी लोकतंत्र की जड़ें हमारे प्राचीन काल में ही थीं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पी.वी. काणे, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
2. मनुस्मृति, वासुदेव शर्मा, निर्णय सागर, मुंबई, 1838
3. महाभारत – सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1977
4. वाल्मीकि रामायण, महर्षि वाल्मीकि, गीताप्रेस गोरखपुर सं. 2040
5. अष्टादश स्मृतयः, एन.एन. शर्मा, दिल्ली, 1976

² तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।

विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्। (मनुस्मृति 8/2)

³ स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः। (याज्ञवल्क्य स्मृति-2/21)

⁴ यत्र स्मृत्योः परस्परतो विरोधस्तत्र विरोधपरिहाराय

विषयव्यवस्थापनादायुत्सर्गापवादादिलक्षणो न्यायो बलीवान् समर्थः। (याज्ञवल्क्य स्मृति 2/21 पर विज्ञानेश्वर की टीका)

⁵ तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।

विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्। (मनुस्मृति 8/2)

⁶ युताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।

राजा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये सभाः।। (याज्ञवल्क्य स्मृति 2/2)

⁷ ते च त्रयः कर्त्तव्याः बहुवचनस्यार्थवत्त्वात्। (याज्ञवल्क्य स्मृति 2/2 पर विज्ञानेश्वर टीका)